International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 09-11-2019; Accepted: 10-11-2019
www.hindijournal.com
Volume 6; Issue 1; January 2020; Page No. 25-27

आत्मपरक मूल्य और मुक्तिबोध का काव्य चिंतन

मंजुलिका पाण्डेय
श्री वेंकटेश्वरा विश्वविद्यालय गजरौला, उत्तर प्रदेश, भारत

प्रस्तावना

कोई भी कलाकार बिना निजी अनुभूति के कुछ भी रच नहीं सकता। यह निजी अनुभूति जब अपने रचनात्मक लक्ष्य के लिए विशिष्ट चिंतन से आवृत्त होकर रूपाकार ग्रहण करती है तो इसमें 'आत्मपरकता' का गुण समावेष्टित हो जाता है। कविता में 'आत्मपरक मूल्यों' के संबंध में सामान्यतः यह माना जाता है कि एक कवि की निजी अनुभूति कविता में कुछ इस प्रकार ढलती है कि मृदुल व ललित अभिव्यक्ति उसकी सीमा बन जाती है। यह विचार आत्मपरकता के व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप मात्र को अभिव्यक्त करता है जहाँ कविता में 'आत्मपरक मूल्य'का प्रश्न आता है वहाँ सूक्ष्म रूप में इतनी उम्मीद अवश्य की जाती है कि कवि के आत्म जीवन को गहरा स्पर्श वहाँ मिले। मुक्तिबोध ने अपने निबंधों में इस पर मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक दोनों भावों से विचार किया है। उन्होंने आत्मपरकता की सीमा व्यक्तिनिष्ठता को नहीं माना। उनका मानना था कि आत्मपरक कविता में व्यक्तिनिष्ठता तो हो ही पर अंदर तक छू लेने वाली, हिला देने वाली विशिष्ट भावप्रवणता भी हो तो आत्मपरक कविता बड़ी काव्यात्मक सार्थकता को सिद्ध कर सकेगी।

आत्मपरक कविता की परंपरा में 'सूरदास', 'मीरा', 'जयशंकर प्रसाद', 'महादेवी वर्मा', 'निराला' आदि सभी कवि आते हैं किंतु उनकी अभिव्यक्ति एक ही नहीं है। 'मीरा' की कविता की 'वेदना' कभी–कभी महादेवी के यहाँ काव्यालंकार बन जाती है। मीरा की प्रेम की पीड़ा को उत्सव बना देती है। इनकी कविताओं में आत्मपरकता का स्वर मूल स्वर बनकर अभिव्यक्त हुआ है। सामान्यतः कविता की 'आत्मपरकता' वेदनाभाव की एक ऊँचाई को स्पर्श करती है। यद्यपि कि यह कोई आवश्यक गुण नहीं है।

आधुनिक युग से पूर्व सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओं में 'भक्तिपरक आत्मपरकता' देखने को मिलती है। सूरदास, तुलसीदास, आदि के विनय संबंधी पदों में 'आत्मपरकता' का गुण देखने को मिलता है। मीरा के पदों में कहीं अधिक आत्मपरकता मिलती है। मीरा की 'आत्मपरकता' में व्यक्तिगत जीवन की बेचैनी और अनुभूत सत्य का प्रभाव दिखता है। यद्यपि कि भक्ति का आवरण है फिर भी कहीं न कहीं उनके पीड़ा की वैयक्तिकता भी प्रकट होती है।

आधुनिक कविता में 'आत्मपरकता' के विषय में चिंतन में परिवर्तन होता गया। यह महसूस किया गया कि विकास क्रम में एक ही प्रकार की आत्मपरक कविता सार्थक नहीं हो सकती । फलतः जयशंकर प्रसाद, निराला, हरिवंश राय बच्चन से लेकर समकालीन कवि मुक्तिबोध, धूमिल तक 'आत्मपरकता' की मूल्य में नई भंगिमा देखने को मिलती है। धीरे–धीरे 'आत्मपरकता' की प्रवृति सामाजिकता के मूल्य से जुड़ती गयी। आत्मपरक कविता में कवि के अपने स्वर के साथ एक दूसरा स्वर भी अब सुना जाने लगा।

हरिवंश राय बच्चन जब कहते हैं "इस पार प्रिये तुम हो मधु है। उस पार न जाने क्या होगा" तो शेष समाज के प्रति बेपरवाही झलकती है। आत्मग्रस्त संवेदना में डूबी आत्मलिप्त स्वर सुनाई देता है। प्रेम की सघन अनुभूति वाली रागात्मक संवेदना प्रधान आत्मपरक कविता को कई आलोचकों द्वारा "बौद्धिक आत्मपरकता' की संज्ञा दी गई। सामान्यतः यह माना जाता है कि कविता में 'आत्मपरकता' का वैशिष्ट्य हो तो वहाँ सामाजिक संदर्भ के लिए उतनी ही जगहबच सकती है जिसमें व्यक्ति का आत्मपक्ष खुल सके। कविता में 'आत्मपरकता' का मूल्य अपना पूरा प्रभाव तभी दिखा पाता है जब कवि का आंतरिक व्यक्तित्व दुःख, प्रेम, अकेलापन, संघर्ष आदि भाव स्थितियों से गहरा उलझाव एक लय में अभिव्यक्त हो। 'आत्मपरकता' में "मैं" के साथ–साथ दूसरे का दुःख भी झाँकता है। भक्त कवियों की आत्मवेदना में पूरे तत्कालीन समाज की वेदना की अनुगूंज सुनाई देती है।

'आत्मपरकता' की प्राथमिक ईकाई होती है संवेदना। वह संवेदना जो हमारे परिवेश से प्रेरित व प्रभावित होती है और हमारे अंतःकरण को एक विशिष्ट आकार देती है। क्रमशः ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान व संवेदना के बीच एक द्वंद्व होता है जिसके परिणाम स्वरूप 'आत्मपरकता' का निर्माण होता है। यह 'आत्मपरकता' बौद्धिकता व कल्पनाशक्ति से अधिक विस्तृत और विकसित होती है।

यद्यपि कि कविता में आत्मपरकता को बहुत निजी चीज माना गया है पर जब कविता प्रकाशित हो जाती है तब उसकी सामाजिक उपयोगिता स्पष्ट होती है। इन कविताओं के भी सामाजिक अभिप्राय होते हैं। यह भ्रम है कि 'आत्मपरकता' कविता को पीड़ा, हताशा, एकदम चारो ओर से बंद भाव की सीमा में बाँधता है। कविता में आत्मपरकता कवि के संघर्ष मूल्य से भीतर ही भीतर ऊर्जा या ताकत ग्रहण करती है।

मुक्तिबोध के यहाँ 'आत्मपरकता' केंद्रीय भाव मे होकर भी बाह्य जगत

से घुलमिलकर निरंतर विकसित होती रहती है। मुक्तिबोध की यह आत्मपरकता बाहर को भीतर समाती है फिर एक बाहरी दुनिया का निर्माण करती है। दरअसल मुक्तिबोध की 'आत्मपरकता' द्वंद्वात्मकता से जूझती हुई सृजन की भूमि पर खड़ी होती है। 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' में मुक्तिबोध स्वंय कहते हैं ––"कला चाहे

यर्थाथ कला ही क्यों न हो एक आत्मपरक प्रयास है। [1]

मुक्तिबोध ने 'आत्मपरकता' पर काफी गहनता से विचार किया है। उनपर फ्रायड, एडलर, जुंग जैसे मनाविश्लेषकों का प्रभाव देखा जाता है। मुक्तिबोध ने यद्यपि कि कलाकार की स्वतंत्रता व कला की स्वतंत्रता का पुरजोर समर्थन किया है लेकिन वे इसे युग और समाज के सापेक्ष मानते हैं। अर्थात् आत्मपरकता को केंद्र में मानते हुए भी मुक्तिबोध ने काव्य को 'समाज सापेक्ष' ही माना। यानि मुक्तिबोध ने अंतर्मन की भावभूमि और बाह्य जगत् के यथार्थ के बीच एक बीच का रास्ता अपनाया।

नीलकांत कहते हैं ––"अवचेतन और आत्मपरकता में ऊपर–ऊपर फर्क अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से वे अभिन्न हैं। 'आत्मपरकता' अपने चरित्र में स्थिर नहीं है, गतिशील है, युग सापेक्ष है और परिवर्तित सामाजिक संरचना का प्रतिबिम्ब है।

मसलन, एक मध्ययुग के कलाकार की आत्मपरकता में गुणात्मक भेद है, क्योंकि दोनों समाजों की संस्कृतियों और मानवीय संबंधों में, एवं प्रकृति के स्वरूप में व्यापक अंतर है। उसी तरह मानव के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोणों में मूल्यों और आदर्शों में यह भेदविभाजन दोनों प्रकार की आत्मपरकता को निर्धारित करता है। जनतांत्रिक समाज में व्यक्ति की मूल्य के विषय, मध्ययुग की धार्मिक मूल्य से एकदम भिन्न होगा। आधुनिक युग का व्यक्ति स्वतंत्रता की मूल्य से प्रेरित और क्रियाशील है, इसलिए अपने व्यक्तित्व की रचना, उसके चयनात्मक बोध के अनुरूप होगी, आत्मपरकता की संकीर्णता या व्यापकता के लिए परिवेश से उसका संघर्ष और इस संघर्ष का दिशा–बोध उत्तरदायी होगा।"[2]

मुक्तिबोध ने 'आत्मपरकता' के नाम पर निरपेक्ष स्वायत्तता को सदा नकारा। मुक्तिबोध ने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य समझने की अवस्था में आने से लेकर आजीवन बाहरी दुनिया को आभ्यान्तरिकृत करता चलता है। इसे मुक्तिबोध आभ्यान्तरिकृत बाह्य कहते हैं। वे यह भी मानते हैं कि इस आभ्यान्तरिकृत बाह्य में अनुभवों का अथाह संचयन होता है और इसे कलाकार उन विशेषताओं से इसे समन्वित व संपादिकत करता है जो 'स्व' की विशेषताएँ हैं।

मुक्तिबोध ने कला की निरपेक्ष स्वायत्तता का जोरदार शब्दों में विरोध करते हुए कहा कि –– "कला की ऑटोनॉमी को, कला की स्वायत्त प्रकृति को, इतना निर्विकल्प (एब्सोल्यूट) किया गया कि साक्षात् जीवन से उसके संबंध टूटने लगे फलतः अंतःकरण का आयतन सीमित हुआ और आत्मपरकता कंगाल होकर रह गई।"[3]

"अंतःकरण का आयतन संक्षिप्त है
आत्मीयता के योग्य मैं सचमुच नहीं है।"[4]

मुक्तिबोध ने इन पंक्तियों में आत्मपरकता की उसी आत्मग्रसता की ओर संकेत किया है जो स्वायत्तता के नाम पर समाज सापेक्षता को नकारती है। इसी समाज से रक्त, जल ग्रहण करने वाला व्यक्ति ऐसा करके दायित्वच्युत होता है। 'आत्मपरकता' यानि मूल्य का वह स्वरूप जिससे हमारा 'स्व' निर्मित होता है और पदार्थ यानि वह बाह्य परिवेश जो हमारे मूल्य के निर्माण, परिष्कार व परिवर्धन में निरंतर अपनी भूमिका निभाता है। इन दोनों के बीच निरंतर अंतःक्रिया होती है। इससे एक द्वंद्वात्मक संबंध निर्मित होता है। यह द्वंद्व 'आत्मपरकता' नितांत आत्मालाप से मुक्त होकर बाह्य जगत से जोड़ता है।

मुक्तिबोध ने यह स्वीकार किया कि कवि का आत्मजगत किसी उद्देश्य या अनुरोध से विचलित होकर उसकी कल्पना नेत्रों के सामने मूर्तिमान हो जाता है। मुक्तिबोध ने 'आत्मपरकता' को आभ्यंतरीकरण–बाह्य की दोहरी प्रक्रिया से विकसित माना है जो कवि के मनोजगत को व्यापकता देती है।

आत्मपरकता को भी मुक्तिबोध ने विश्वचेतस मूल्य से जोड़कर इसे व्यथा, वेदना या मांसल प्रेम, रूदन की सीमा से मुक्त करने का प्रयास किया।

तार सप्तक के अपने वक्तव्य में मुक्तिबोध इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि –– "आज के वैविध्यमय, उलझन भरे, रंग–बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एकबार बाहर जाना ही होगा। बिना उसके इस विशाल जीवन–समुद्र की परिसीमा, उस के तट प्रदेशों के भू–खण्ड, आँखों से ओट ही रह जाएँगे। कला का केंद्र व्यक्ति है, पर उसी केंद्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युगसंधि काल में कार्यकर्त्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गलत साबित करना ही होगा।"[5]

तार सप्तक में ही एक कविता है– "आत्म–संवाद"––

"आज छन्दों में उमड़ती आ रही है बात
जो कि सादे गद्य में खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छाती में घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है, पैर है, और धैर्य चलता जा रहा है
किंतु उर में क्यों उदासी शाप–सी
प्रत्येक चेहरे पर लिपि जो राख सी
प्राण है, औ, बुद्धि का भी कार्य चलता जा रहा है
वक्ष है, बल है, हृदय में ओज भी तो कम नहीं है
किंतु उर में अश्रु है अति म्लान भी
विवशता का सहज अनुमान भी
स्नेह है, आदर्श है, औ, तेज भी तो कम नहीं है
तर्क है औ तर्क का राक्षस हमारे बाहु में है
किंतु चिन्ता गुनगुनाती आसगुनी
मौन ले बैठी व्यथा बनकर गुनी।"[6]

इस कविता में आत्मपरकता का स्वर है पर आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियों की परिधि से बाहर जाने और बाहर की दुनिया के अनुभव को अपने भीतर शामिल करने का प्रयास भी है। आत्म–स्वीकृतियाँ और यर्थाथ के बीच का संघर्ष व विरोध इस कविता की आत्मपरकता को एक विस्तृत परिपेक्ष्य प्रदान करता है।

मुक्तिबोध की कविता है ––

"मैं अपने से ही सम्मोहित,
मन मेरा डूबा निज में ही।
मेरा ज्ञान उठा निज में ही,
मार्ग निकाला अपने से ही।
.....
मेरा जग से विद्रोह हुआ पर,
मैं अपने से ही विद्रोही।
गहरे असंतोषकी ज्वाला,
सुलग जलाती है मुझको ही।"[7]

अन्तदर्शन शीर्षक की इस कविता में कवि स्वयं को साक्ष्य की तरह रखता है और संशय, भ्रम, द्वंद्व को अभिव्यक्त करते हुए एक ऐसा मूल्य पाना चाहता है जिससे वह आत्मसंतोष पा सके। यह आत्मसंतोष वास्तव में आत्म–मुक्ति से ही संभव थी। आत्म–मुक्ति अर्थात् आत्म का बाह्य से अतःसंघर्ष।

'' फिर वही यात्रा सुदूर की
फिर वही भटकती खोज भरपूर की
फिर वही आत्मचेतस अंतःसंभावना
.....जाने किन खतरों से जूझे जिंदगी!!
अपनी धकधक
में दर्दीले फैले–फैलेपन की मिठास,
या निःस्वात्म विकास विकास का युग
जिसकी मानव गति को सुनकर
तुम दौड़ोगे प्रत्येक व्यक्ति के
चरण –तले जनपथ बनकर !!''[8]

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के लिए आत्मचेतस भाव जनचेतस भाव की व्यापकता तक पहुँचने का प्रथम सोपान है जहाँ आत्मपीड़ा संघर्ष करती है ,विस्तार पाती है और परपीड़ा के समाधान के लिए आत्मोत्सर्ग की सीमा तक प्रस्तुत हो जाती है।निःसंदेह भरपूर की खोज करने वाले मुक्तिबोध की कविता में आत्मपरक मूल्य विश्वचेतस मूल्य से जुड़कर अत्यंत गहन व व्यापक संदर्भों में अभिव्यक्त हुआ है।

संदर्भ सूची

1. नई कविताका आत्मसंघर्ष, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ0 169
2. मुक्तिबोध की तीन कविताएँ, नीलकांत, पृ0 22
3. नई कविता का आत्मसंघर्ष,मुक्तिबोध, पृ0 45

4. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ0 200
5. 5.तार सप्तक प्रथम, सं0 अज्ञेय, पृ0 23
6. मुक्तिबोध रचनावली भाग – 5, सं0 नेमीचंद्र जैन, पृ0 45
7. तार सप्तक (प्रथम), सं0 अज्ञेय, पृ0 67
8. चाँद का मुँह टेढ़ा है,मुक्तिबोध, पृ0 36